भाषा और धर्म का संबंध

अभिषेक सौरभ*

राष्ट्रवाद कभी भी इतना उदार व व्यापक नहीं होता कि सभी को अपना सके। जिस 19वीं सदी के भारत को आधुनिकता प्रदान करने की सदी माना जाता है, उसी सदी में हिंदू उर्दू भाषायी विवाद की कल्पित दीवार खड़ी कर धार्मिक समुदाय अपने लिए विभाजक रेखाओं को चुन रहे थे और जिस पाकिस्तान को 20वीं सदी के मध्य में जन्म लेना था उसके भ्रूण को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पाला जा रहा था। व्याकरणिक संरचना और बोलचाल तक में एक रही हिंदी और उर्दू (हिंदुस्तानी) भारत की साझी हिंदवी परंपरा, भारत की साझा संस्कृति का बेहतरीन नमूना था। तत्कालीन ब्रिटिश शासकों, आर्य समाज और अलीगढ़ सरीखी आंदोलनों की हर संभव कोशिशों के बावजूद उर्दू मुसलमानों की और ना हिंदी हिंदुओं की भाषा बन पाई। लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि दोनों भाषाओं को अलग-अलग धार्मिक पहचान मिल गई। इसका उपयोग 20वीं सदी में सांप्रदायिक राजनीति के तहत भाषायी अस्मिता का प्रश्न बनाकर मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के ध्रुवीकरण में किया। यही काम हिंदू महासभा ने हिंदी को लेकर किया। भाषा के इस तरह धर्म से जुड़ने से दोनों भाषाओं और उनकी साझा विरासत को बहुत नुकसान हुआ और उनके बीच की खाई निरंतर और भी चौड़ी होती चली गई।

भूमिका

धर्म का प्रयोग सिर्फ़ व्रत, उपासना, नमाज़, रोज़े या दरगाहों पर चादर चढ़ाने तक कभी सीमित नहीं रहता बल्कि भौतिक ज़िंदगी में प्रतियोगिता की घड़ी में उसका सर्वाधिक कुटिल इस्तेमाल किया जाता है। जो हिंदी और उर्दू किसी हिंदुस्तानी ज़ुबान में ढलनी चाहिए थी, उन्हीं को परस्पर कट्टर दुश्मन के रूप में ढाल दिया गया।

कहते हैं कि राष्ट्रवाद कभी इतना उदार व व्यापक नहीं होता कि सभी को अपना सके। जिस उन्नीसवीं सदी को भारत को आधुनिकता प्रदान करने की सदी माना जाता है, उसी सदी में धार्मिक

* *एम.ए. छात्र*, झेलम हॉस्टल, कमरा नंबर 349, जेएनयू, नयी दिल्ली

Chapter 11.indd 98 03-08-2017 16:16:05

समुदाय अपने लिए विभाजक रेखाओं को चुन रहे थे और जिस पाकिस्तान को बीसवीं सदी के मध्य में जन्म लेना था उसके भ्रूण को उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में पाला जा रहा था।

कहा जाता है कि भाषा मुख्य रूप से सामाजिक संबंधों को निर्मित करने और उन्हें पहचान देने का काम करती है जबकि धर्म विशाल कल्पनाओं और मिथकों की आधार भूमि पर टिका होता है। 19 वीं सदी में हिंदी-उर्दू भाषा का विवाद वह हथियार बना जिसने पूरे समुदाय की उत्पीड़ित ग्रंथि को पहले तो निर्मित किया और फिर उसका इस्तेमाल गोलबंदी और दबावकारी राजनीति के लिए करना शुरू कर दिया। 1876 में अवध के शिक्षा विभाग के निदेशक जे.सी. नेसफ़ील्ड ने लिखा – *मौलवियों और पंडितों के बीच की शत्रुता अजीबोगरीब थी। उन दोनों ने ही अपनी-अपनी भाषा के शब्दों को लेकर ज़िद-सी पकड़ ली जिसने नि:संदेह हिंदी और उर्दू के बीच की दूरी को और बढ़ाने का काम किया। उन्होंने यह झूठा प्रचार करने की भी कोशिश की, कि उर्दू और हिंदी दो अलग-अलग ज़ुबानें हैं। (हिंदी नागरी एवं गौरक्षा, रस्सीकशी)*

ज़ाहिर है कि ब्रिटिश राज के अफ़सर खुद भी भोले व निष्पक्ष नहीं थे। भाषा के स्तर पर जब अलगाव बढ़ा तो उन्होंने पहले तो सावधानी से उनका जायज़ा लिया और फिर धार्मिक दरारों को चौड़ा करने के लिए इन भाषायी प्रतिनिधियों की माँगों के प्रति हमदर्दी जताने की आड़ में उनके टकराव को उकसाने का भी खेल खेला।

अमृत राय ने अपनी किताब ए *हाउस डिवाइडेड* में इस ओर इशारा किया है कि जाने-अनजाने में हिंदी-उर्दू प्रेस ने भी धर्म मज़हब के आधार पर ध्रुवीकरण को सहायता दी।

इस समय की वस्तुस्थिति का अवलोकन कर, पाल ब्राश ने कहा – *19वीं सदी के आखिरी दशकों में और बीसवीं सदी की शुरुआत में हिंदुस्तान के लोगों ने हिंदुओं, मुसलमानों और अंग्रेज़ों ने जिन रास्तों का चुनाव किया वे आखिरकार उन्हें हिंदुस्तान के बँटवारे तक ले गए। (पृष्ठ-251, हिंदी नागरी और गौरक्षा रस्साकशी)*

हम इस पत्र में इस बात की तफ़्तीश करेंगे कि किस प्रकार हिंदी और उर्दू जिसकी वाक्य रचना और व्याकरण का ढाँचा एक है, जिसका वर्तमान भले ही खंडित हो पर साझा आतीत है, धर्म की शरण लेकर हिंदू और मुस्लिम में बँट जाती है।

भाषा और धर्म का संबंध (हिंदी-उर्दू विवाद के संदर्भ में)

व्याकरण और बोलचाल को आधार बनाया जाए तो हिंदी और उर्दू को अलग-अलग भाषाएँ मानने वाला तर्क ध्वस्त हो जाता है। लेकिन साहित्यिक स्तर पर देखा जाए तो दोनों भाषाओं के बीच अंतर रहे हैं। अलग-अलग लिपि में लिखे जाने के कारण भी इन्हें अलग-अलग भाषाओं का दर्जा दे दिया जाता है। लेकिन साथ ही यह भी सच है कि परस्पर दो सदी तक लगातार टकराव के बावजूद भी हिंदी और उर्दू के अलावा शायद ही दुनिया की कोई और भाषा हो जो इतनी गहराई और अंतरंगता के साथ एक-दूसरे से जुड़ी हुई हो।

प्रसिद्ध भाषाविद् अशोक केलकर ने इसके लिए हर्दू शब्द का ज़िक्र किया है। जिस मध्यकालीन

हिंदवी (पुरानी हिंदी) या हिंदुस्तानी भाषा से उर्दू और हिंदी दोनों का वजूद बना, उसकी हिमायत में मियाँ मुस्तफ़ा ने सदियों पहले फ़रमाया था –

हिंदी को ना मारो ताना
सभी बतावें हिंदी माना
यह जो है कुरआन खुदा का
हिंदी करे बखान सदा का
हिंदी मेंहदी ने फ़रमायी
खुंदमीर के मुख पर आयी
कई दोहरे, साखी, बात
बोले खोल मुबारक जात
मियाँ मुस्तफ़ा ने भी कही
और किसी की तब क्या रही?

इस प्रकार हिंदवी परंपरा भारत की साझा संस्कृति का बेहतरीन नमूना है। इस साहित्यिक परंपरा ने अपने विकासक्रम में संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों को काफ़ी सहज रूप से ग्रहण किया।

ब्रजभाषा भाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय
मिलै संस्कृत पारस्यौ, पै अति सुगम जु होय।

किंतु 18वीं सदी से यह साझा परंपरा पतनोन्मुख होने लगी, गूजरी और दकनी का ढलान शुरू हुआ और उसका स्थान उर्दू ने ले लिया। ठीक इसी प्रकार उन्नीसवीं सदी में ब्रज और अवधि का स्थान लिया आधुनिक हिंदी ने।

शुरुआती उर्दू के अत्यधिक फ़ारसीकरण और उसके गढ़े एवं परिष्कृत साहित्य पर 'आबे हयात' में आज़ाद साहब ने अत्यधिक चुटकी ली। ठीक उसी प्रकार आधुनिक हिंदी भी और परिष्कृत होती हुई संस्कृतनिष्ठ होती चली गई।

इस प्रकार एक ही उद्गम स्रोत से निकली हुई उर्दू और हिंदी दो अलग-अलग साहित्यिक रास्तों की ओर अग्रसर हुईं। इस भाषायी विभाजन को धर्म और राजनीति ने और अधिक मज़बूत किया। ब्रिटिश शासकों ने राजनीतिक लाभ के लिए भारत में हिंदुओं तथा मुसलमानों को अपना अस्तित्व अलग-अलग भाषाओं में ढूँढ़ने के लिए प्रेरित किया।

भाषा को धर्म से जोड़ने का जो काम अंग्रेज़ों ने शुरू किया था उसे आगे बढ़ाया आर्य समाज तथा अलीगढ़ आंदोलन ने। आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानंद सरस्वती ने हिंदी को एक नया नाम दिया 'आर्यभाषा' तथा इसे समस्त हिंदुओं की भाषा बताया तथा अपना महत्वपूर्ण ग्रंथ *सत्यार्थ प्रकाश* हिंदी में लिखा। लेकिन एक दिलचस्प बात यह है कि पंजाब में *'आर्य गजट'* तथा उत्तर प्रदेश में *'आर्य पत्रिका'* और *'आर्य समाचार'* उर्दू भाषा के अखबार थे जिनके माध्यम से आर्यभाषा का प्रचार हो रहा था। यानी धर्म का और भाषा का समीकरण वास्तविक न होकर महज़ किताबी था।

ठीक इसी प्रकार अलीगढ़ आंदोलन ने उर्दू भाषा का प्रचार-प्रसार सभी भारतीय मुसलमानों की ओर सिर्फ़ मुसलमानों की भाषा के रूप में किया।

लेकिन तत्कालीन ब्रिटिश शासकों, आर्य समाज और अलीगढ़ आंदोलनों की हर संभव कोशिशों के बावजूद न तो उर्दू मुसलमानों की और ना हिंदी सिर्फ़ हिंदुओं की भाषा बन पाई। लेकिन इतना ज़रूर हुआ कि दोनों भाषाओं को अलग-अलग धार्मिक पहचान अवश्य मिल गई। इसका उपयोग बीसवीं सदी में सांप्रदायिक राजनीति के तहत भाषायी अस्मिता

का प्रश्न बनाकर मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के ध्रुवीकरण में किया। यही काम हिंदू महासभा ने हिंदी को लेकर किया।

भाषा को इस तरह धर्म से जोड़ने से दोनों भाषाओं का बहुत नुकसान भी हुआ और उनके बीच की खाई भी और चौड़ी होती चली गई। हालाँकि 1860 के आस-पास अकबर इलाहबादी ने इसे बस एक पारिवारिक खटपट भर माना और इस हिंदी-उर्दू विवाद का मज़ाक भी उड़ाया —

हम उर्दू को अरबी क्यों न करें
हिंदी को वो भाषा क्यों न करें,
अखबार चलाने की खातिर
मजमून तराशा क्यों न करें।।
आपस में अदावत कुछ भी
नहीं, पर एक अखाड़ा जारी है,
जब इससे खल्क का दिल बहले
हम लोग तमाशा क्यों न करें।।

यहाँ हम लोग का अभिप्राय हिंदी और उर्दू दोनों ही कुनबों से था।

बज़्म की शब मैंने उस बुत से
लड़ाई थी ज़बां,
ये असर उसका हुआ, उर्दू से हिंदी लड़ गई।

वैश्विक इस्लाम (Pan Islam) का दम भरने वालों को लताड़ते हुए अकबर इलाहबादी ने लिखा –

शेख जी तुमको मुबारक रूम ओ रय,
हम तो कहते हैं गांधी जी की जय।।

इसी क्रम में, सारांशत: हम कह सकते हैं कि हिंदी-उर्दू विवाद को शुरू करने और शह देने में और दो महत्वपूर्ण कारक रहे, जिनमें एक फोर्ट विलियम कॉलेज में सर जॉन गिलक्राइस्ट द्वारा सर्वप्रथम हिंदी व उर्दू को अलग-अलग भाषा मानकर उनके लिए अलग-अलग तरीके से अध्ययन व लेखन के तरीकों को प्रस्तावित करना रहा। दूसरा, सीरमपुर में ईसाई मिशनरियों द्वारा 18वीं सदी के अंत में जब छापाखाना खोला गया, तब अक्षरों का टाइप तैयार करने के लिए उन्होंने जो मानकीकृत रूप तैयार किया वह हिंदी और आम बोलचाल में निकट होते हुए भी उर्दू से लिखित में अलग था।

इन सब स्थितियों के साथ-साथ उस समय जो अंग्रेज़ों की तुष्टीकरण की नीति मुस्लिमों के प्रति रही उसने हिंदी-उर्दू के साथ-साथ दोनों धर्मों के सौहार्द्र पर भी चोट की। दोनों तरफ़ के जो झंडाबरदार थे एक-दूसरे पर और तेज़ से तेज़ हमलावर होते चले गए। दोनों तरफ़ के लोगों ने एक-दूसरे की भाषा के निकृष्ट से निकृष्टतम कहने और साबित करने में कोई कोर-छोर नहीं छोड़ रखी थी। भाषाओं के साथ राजनीतिक उद्देश्यों के जुड़ने के कारण हिंदू और मुस्लिम दोनों की एक-दूसरे के प्रति कड़वाहट और बढ़ती ही जा रही थी। 19वीं सदी के मुसलमानों को बहुसंख्यक हिंदुओं के कारण अपना राजनीतिक अस्तित्व खोने का डर था। सैयद अहमद हिंदू-मुस्लिम एकता तो चाहते थे परंतु पुराने शक्ति समीकरण के तहत ही जिसमें हिंदू भद्र वर्ग नीचे था। 19वीं सदी का मुस्लिम अलगाववाद जनतांत्रिक माँगों के विरोध का नतीजा था। यह विरोध पुरानी राजनीतिक हैसियत व विशेषाधिकारों की सुरक्षा के लिए था।

इन्हीं परिस्थितियों में मुस्लिम भद्र वर्ग ने उर्दू को इस्लाम के साथ जोड़कर इसे अपनी धार्मिक अस्मिता का प्रतीक बनाया। हकीकत में उर्दू को उनकी धार्मिक अस्मिता से कहीं अधिक उनकी भौतिक अस्मिता का, सरकारी नौकरियों पर उनके कब्ज़े का प्रतीक थी। यह वाकई बड़ी दिलचस्प बात थी कि जो उर्दू 18वीं सदी के उत्तरार्ध से पहले एक गैर-इस्लामी ज़ुबान समझी जाती थी, वह इस्लाम का प्रतीक बन गई।

ठीक इसी प्रकार पश्चिमेत्तर प्रांत में हिंदू भद्रवर्ग की अलगाव की भावना न सिर्फ हिंदी को संस्कृतनिष्ठ बनाकर उसे बोलचाल की जुबान से अलग और दूर करने के प्रयास में प्रकट हुई, बल्कि सीधे-सीधे मुस्लिम विरोध में भी प्रकट हुई। राजा शिवप्रसाद ने मुसलमानों का सिंधु पार करना भारतवासियों के लिए अभिशाप का दिन माना।

1885 में छपी किताब *हिंदी और उर्दू की लड़ाई* में उसके लेखक सोहनप्रसाद ने बहुत मासूमियत के साथ कहा कि धार्मिक-सामाजिक दृष्टि से हिंदू मुसलमानों का एक-दूसरे के नज़दीक आना उचित नहीं। जुलाई 1881 में *हिंदी प्रदीप* में बालकृष्ण भट्ट ने लिखा – "आर्यों के एकांत विरोधी मुसलमानों को अपना भाई समझना भूल है। हालाँकि ये सब मुस्लिम विरोधी बयान द्विज हिंदुओं के थे। शूद्र और दलित बहुत हद तक उनसे मिलकर रहते थे। हिंदू द्विज और मुसलमान भद्र वर्ग इन दोनों धर्मों के मेल को धार्मिक पतन समझते थे। लेकिन हिंदू मुस्लिम शुद्धतावादियों को इसका एहसास नहीं था कि हिंदुस्तान में बसे 4635 समुदायों में से 35 हिंदू और इस्लाम दोनों धर्मों को मानते हैं। 116 समुदाय हिंदू और ईसाई दोनों को मानते हैं । 16 समुदाय ऐसे हैं जो हिंदू, इस्लाम और सिख तीनों को मानते हैं। जैन हिंदुओं और बौद्ध हिंदुओं के बीच भी यही संबंध है। 94 ऐसे समुदाय ऐसे हैं जिनकी ईसाइयत और आदिवासी दोनों परंपरा रही है।

वास्तव में अपने परस्पर हितों के संधान हेतु भद्रवर्गीय हिंदू मुसलमान न सिर्फ आपस में अलगाव चाहते थे बल्कि समुदाय के जिन तबकों में यह अलगाव नहीं था उन्हें भी घसीटकर अपने साथ गोलबंद करना चाहते थे। हिंदू भद्रवर्ग के सरकारी नौकरियों में न जा पाने से चिंतित भारतेंदु की ही तरह भट्ट ने भी यह हिसाब लगाते हुए स्पष्ट लिखा कि "आबादी के हिसाब से हिंदू मुस्लिमों से सात गुना अधिक हैं इसलिए सात बड़े ओहदों पर हिंदू हो जाने के बाद एक मुसलमान होना वाजिब है।" इसी तरह इन पदों पर काबिज होने हेतु मुस्लिम भी प्रयत्नशील थे। दोनों ही वर्ग को अपनी-अपनी कौम की चिंता सता रही थी और देशहित के खयाल को मज़हबी रंग में रंगने की कोशिशें की जा रही थीं। हिंदी-उर्दू टकराव भी इसी प्रक्रिया का हिस्सा था क्योंकि टकराव से जो तर्क निकलकर जनमानस के भीतर प्रवेश कर रहे थे, सिर्फ भाषा नहीं बल्कि धार्मिक टकराव की गूंज के लिए होते थे। मीर का एक शेर है-

उसके फ़रोगे हुस्न से झमके हैं सबमें नूर
शम्अ-ए हरम हो या कि दिया सोमनाथ का।।

एक ही ईश्वर की हर जगह मौजूदगी की बात जिस भाषा में कही गई थी, उसी भाषा को आधार

बनाकर जो लड़ाइयाँ लड़ी गईं उनमें भाईचारा नहीं बल्कि अपनी-अपनी धार्मिक संप्रदाय (कौम) के वर्गीय हितों का दबाव ज़्यादा गहरा था। इसने धर्म यानी ईश्वर को भी भाषा से जोड़ दिया।

संदर्भ

तलवार, वीर भारत. 2012. *रस्साकशी* (19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत). पृ. 251-258, 262, 263, 290-299, 304, 305. सारांश प्रकाशन, दिल्ली.

सिंह, मुरली मनोहर प्रसाद, चंचल चौहान, कांतिमोहन सोज और रेखा अवस्थी. (संपादक-मंडल). 2011. *हिंदी-उर्दू — साझा संस्कृति*. पहली आवृत्ति. पृ. 9, 10, 11, 15, 32, 33, 55-60, 64 -80. नेशनल बुक ट्रस्ट , नयी दिल्ली.